वृद्धि, लचीलापन तथा सुधार : संकटोत्तर नीतिगत चुनौतियों पर अनुचिंतन *

सुबीर गोकर्ण

प्रस्तावना

45वाँ ए.डी.श्रॉफ मेमोरियल लेक्चर देते हुए मैं बड़े हर्ष और गर्व का अनुभव कर रहा हूँ। मुझसे पूर्व जो वक्ता बोल चुके हैं, उसमें, हमारे देश के कारोबार तथा नीति प्रतिष्ठानों की महान विभूतियां शामिल हैं और ऐसे प्रख्यात महानुभावों की सूची का एक हिस्सा बनते हुए मैं गर्व महसूस कर रहा हूँ। मुझे यह भी खुशी है कि इस भाषण का स्थल इंडियन मर्चेंट्स चैंबर चुना गया है। 1991 में शुरू किए गए सुधारों की वर्ष 2011 में, बीसवीं वर्षगाँठ है। इस वर्ष के शुरू में इंडियन मर्चेंट्स चैंबर तथा इंदिरा गाँधी विकास अनुसंधान संस्थान, जिसका मैं संकाय सदस्य था, ने मिलकर एक दस्तावेज़ तैयार किया था जिसका शीर्षक था 'आर्थिक सुधारों के लिए नीतिगत विकल्प', जिसमें व्यापार, वित्त श्रम बाज़ार तथा लघु और मध्यम उद्यमों - इन चार विषय-क्षेत्रों के लिए सुधार के ब्लू प्रिंट्स निर्धारित किए गए थे। बड़े-बड़े व्यवसायियों और शिक्षाविदों के बीच संदर्भों का आदान-प्रदान, जो दस्तावेजों का हिस्सा बना, मेरे लिए, मेरे कैरियर के शुरुआती दौर में सीखने का एक महत्वपूर्ण अनुभव था। इसने मुझे, मेरे समूचे कैरियर के दौरान औद्योगिक संघों के साथ व्यावसायिक संबंध बनाए रखने के लिए प्रेरित किया। मुझे इन संबंधों से निश्चय ही बहुत लाभ हुआ, और मुझे उम्मीद है कि संघों को भी हुआ होगा।

गत बीस वर्ष, भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए निस्संदेह नाटकीय परिवर्तन की अवधि रही। इसमें से अधिकांश परिवर्तन उस नीति फ्रेमवर्क को अपनाने से आया है जिसपर स्वर्गीय श्री श्रॉफ बहुत बल देते थे, और वह था विकास प्रक्रिया में प्राइवेट उद्यमों द्वारा निभाई जाने वाली महत्त्वपूर्ण भूमिका । निस्संदेह जब हम उन महत्त्वपूर्ण सुधारों की बीसवीं वर्ष गाँठ मना रहे हैं, जो सुधारों की दृष्टि से पहला बड़ा कदम था, हमें इस समूची अवधि की तरफ एक वस्तुनिष्ठ और विवेकपूर्ण तरीके से झाँककर देखना चाहिए कि परिवर्तन की समूची प्रक्रिया ने अर्थव्यवस्था को कैसे प्रभावित किया है। व्यापक रूप से कहा जाए तो सुधारों ने आर्थिक गतिविधि के अवसरों का बड़े पैमाने पर विस्तार किया है, इसके परिणामस्वरूप और अधिक तेज़ी से वृद्धि हुई जिसमें उच्चतर उत्पादकता ने भी काफी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

तथापि ये परिवर्तन अपने साथ बढ़े हुए जोखिम भी लेकर आए, खासकर वैश्विक अर्थव्यवस्था के प्रति बढ़े हुए एक्सपोज़र के संबंध में, जो सुधार प्रक्रिया ने निर्मित किए। ये जोखिम पिछले बीस सालों में काफी उभर कर सामने आए - 1997-98 का एशियाई संकट तथा अमरीका की 2001 की मंदी का भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी पर 2001 में प्रभाव - इसके दो खास उदाहरण हैं। पर ये प्रभाव उस प्रभाव की तुलना में कहीं नहीं ठहरते जो 2008 के वित्तीय संकट ने वैश्विक अथवा भारतीय अर्थव्यवस्था पर डाला है।

वैश्विक स्तर पर नीति और विनियमन संबंधी बहस उस संकट से काफी प्रभावित हुई है। बहुत से प्रभाव-क्षेत्रों में से अब केंद्र बिंदु, बाज़ार की शक्तियों और स्वतंत्र उद्यम द्वारा निर्मित अवसरों से बदलकर उन जोखिमों पर आ गया है जो इन्होंने प्रणाली में पैदा कर दिए हैं। बाज़ार की खूबियों के प्रति अनियंत्रित उत्साह ने असमंजस, तिरस्कार और घृणा की स्थिति पैदा कर दी है। तथापि ऐसी सब चर्चाओं की भाँति ही अंतिम परिणाम, जिस पर दीर्घावधि नीति की सोच और कार्रवाई आधारित होगी, कहीं मध्य में होगा। निश्चय ही भारत जैसी विकास अवस्था वाली अर्थव्यवस्था में, प्रभावी रूप से कार्य करने वाली बाज़ार शक्तियों तथा आर्थिक कार्यनिष्पादन के बीच के संबंध को, नज़रंदाज नहीं किया जा सकता। बाज़ार की शक्तियों ने टिकाऊ और तेज़ वृद्धि में योगदान दिया है और यह अनिवार्य है।

इसी प्रकार 1991 में शुरू किए गए घरेलू बाज़ारों के वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण तथा एक्सपोज़र द्वारा जनित भेद्यताएँ विकास की कार्यनीति के महत्त्वपूर्ण परिणामों में से एक थीं तथा उनकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अगर वैश्विक उथल-पुथल से

* 2 नवंबर 2011 को मुंबई में इंडियन मर्चेंट्स चेंबर में भारतीय रिज़र्व बैंक के उप गवर्नर डॉ सुबीर गोकर्ण द्वारा दिया गया 45वाँ ए.डी.श्रॉफ स्मारक भाषण। श्री भूपाल सिंह द्वारा दिए गए योगदान के लिए हार्दिक आभार।

आर्थिक कार्य-निष्पादन को बचाना है तो कार्यनीति में कुछ सुरक्षा-उपाय भी बनाने होंगे। घरेलू प्रतियोगिता और वैश्विक एक्सपोज़र से मिले उत्पादकता और कार्यकुशलता संबंधी लाभों को सुरक्षा और स्थिरता संबंधी चिंताओं से संतुलित करना होगा जिसके लिए इन शक्तियों पर कुछ सीमा तक पाबंदियाँ भी लगानी पड़ेंगी। 2008 के संकट ने सक्षमता और स्थिरता के बीच एक संतुलन बनाने की ज़रूरत पर बल दिया है। पहले पर अधिक ज़ोर देने से गंभीर समस्याएँ पैदा हो सकती हैं, जैसा हमने 2008 में देखा। वैश्विक एकीकरण की गति को देखते हुए ये पूरे विश्व में तेज़ी से फैल सकती हैं। दूसरी ओर सुरक्षा की बहुत अधिक चिंता की गई तो प्रभावशाली रूप से कार्य कर रही बाज़ार शक्तियों से मिलने वाले लाभ, घरेलू और वैश्विक - दोनों रूपों में ढीले पड़ जाएँगे।

मेरे अभिभाषण का मुख्य कथन यह है कि सक्षमता और स्थिरता के बीच संतुलन विकास कार्यनीति में अंतर्निहित किया जाना चाहिए। सुधार, जो कि आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की प्रतियोगिता पैदा करता है और इस प्रकार और अधिक सक्षमता तथा तेज़ वृद्धि में योगदान करता है, को सुरक्षा उपायों से अनुपूरित किया जाना चाहिए ताकि इन शक्तियों से पैदा हुए जोखिमों का सामना किया जा सके। यहाँ मैं कहना चाहूँगा कि इस संतुलन ने संकट से पहले के पाँच वर्षों में, विकास को तेज़ गति भी प्रदान की है और साथ ही संकट के बाद लचीलापन भी प्रदान किया है। अब मैं सक्षमता और स्थिरता के बीच इस संतुलन के व्यापक संदर्भ में कुछ नीतिगत चुनौतियों के बारे में चर्चा करना चाहूँगा।

एक संगठनात्मक ढाँचा

चार्ट-I में प्रदर्शित साधारण फ्रेमवर्क के अनुसार गत एक दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था के कार्य का विश्लेषण करना यहाँ सार्थक होगा। 2x2 मैट्रिक्स से अनुकूल और प्रतिकूल, वैश्विक और घरेलू स्थितियों से उभरे चार परिदृश्य उपस्थित होते हैं। 2003 से 2010 तक की अवधि को दो बॉक्सों में वर्गीकृत करना काफी आसान है। इस अवधि के पहले के पाँच वर्ष, अर्थात् संकट से पहले के वर्ष, ऊपर के दाहिने ओर के बॉक्स में स्पष्टत: आते हैं जिनसे वैश्विक और घरेलू - दोनों प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ परिलक्षित होती हैं। वृद्धि की दृष्टि से यह अवधि भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक स्वप्न की भाँति थी जिसमें पाँच वर्षों के दौरान प्रतिवर्ष 8.9 प्रतिशत की औसत वृद्धि हुई। इस वृद्धि दर की शक्ति को इस तरह समझ सकते हैं कि इस दर पर पाँच वर्ष की अवधि में जीडीपी 50 प्रतिशत बढ़ेगी और लगभग साढ़े आठ सालों में दुगुनी हो जाएगी। इस

चार्ट 1: वृद्धि परिदृश्य

वैश्विक स्थितियाँ	अनुकूल	??	2003-08 (8.9%)
	प्रतिकूल	2008-10 (7.4%)	2010+
		प्रतिकूल	अनुकूल
		घरेलू स्थितियाँ	

स्थिति ने अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों के उत्पादों और सेवाओं की माँग पर प्रभाव का अनुभव किया है।

आर्थिक नीति तथा कारोबारी कार्यनीति परिप्रेक्ष्यों, दोनों के लिए, यह अवधि भावी कार्यनिष्पादन के लिए एक बेंचमार्क प्रदान करती है। तथापि फ्रेमवर्क को इन अपेक्षाओं में एक वास्तविकता का पुट भी रखना चाहिए। यह इस तथ्य को परिलक्षित करती है कि यह वृद्धि दर, स्पष्ट रूप से एक अनुकूल वैश्विक वातावरण में प्राप्त की गई थी, जो संभवत: कुछ आगामी वर्षों में न रहे।

फ्रेमवर्क पर विचार करने से प्रकट होगा कि 2008-10 की संकट अवधि स्पष्टत: नीचे के बाईं ओर के बॉक्स में आती है, जिससे प्रतिकूल वैश्विक और घरेलू परिस्थितियाँ परिलक्षित होती हैं। वित्तीय संकट, जिसकी शीर्ष घटना संभवत: सितंबर 2008 में लेहमैन ब्रदर्स का धराशायी होना था, आक्रामक वैश्विक वातावरण की सबसे बड़ी घटना थी, परंतु इसके अलावा और भी कई खतरे थे जिन्होंने इस अवधि में सर उठाया। 2008 के पूर्वार्द्ध में विश्व में हर जगह खाद्य-स्फीति भी बढ़ी और तेल की कीमतें भी। इन दोनों प्रवृत्तियों ने अंतर्निहित स्फीतिकारी दबावों को और बढ़ा दिया जो निरंतर उच्च वृद्धि के परिणामस्वरूप घरेलू स्थितियों में महसूस किए जा रहे थे। इन स्थितियों में मौद्रिक नीति की स्थिति तो पूरी तरह अ-स्फीतिकारी होनी ही थी जिसके कारण जुलाई 2008 में रेपो दर 9 प्रतिशत के उच्चतम स्तर पर पहुँच गई जिस्तर पर यह पहले कभी नहीं गई थी। वैश्विक उथल-पुथल तथा घरेलू माँग में संकुचन के योग से निस्संदेह वृद्धि तो गिरनी ही थी, और वह गिरी भी। तथापि आश्चर्य की बात यह हुई कि यह बहुत अधिक नहीं गिरी। 2008-09 में अर्थव्यवस्था में 6.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई और 2009-10 में तो वृद्धि 8 प्रतिशत तक पहुँच गई, और वह भी ऐसे समय में, जब पूरे विश्व में अर्थव्यवस्था

में काफी धीमापन था। एक गहरे आघात के सामने, जिसके बारे में मैं पुन: कहना चाहूँगा कि वैश्विक और घरेलू दोनों रूपों में यह प्रतिकूल स्थितियों से पैदा हुआ, यह स्पष्ट रूप से हमारी अर्थव्यवस्था के लचीलेपन का ही संकेत था।

अब मैं एक ओर सुधार प्रक्रिया तथा वृद्धि, तथा दूसरी ओर देशों की सीमाओं और लचीलेपन के बीच के संबंधों पर कुछ कहना चाहूँगा।

सुधार और वृद्धि

1991 में शुरू की गई सुधार प्रक्रिया का आधार वाक्य था कि बाह्य और आंतरिक, दोनों प्रकार की बढ़ती प्रतियोगिता से आर्थिक वृद्धि की गति तेज होने में मदद मिलेगी। औद्योगिक लाइसेंसिंग समाप्त करने से लेकर व्यापारिक बाधाओं को तेजी से कम करने और वित्त पर आबंटनीय नियंत्रण समाप्त करने जैसे सुधारों के समूचे स्पेक्ट्रम का उद्देश्य 'क्या, कहाँ और कैसे' उत्पादन करना है। उसके संदर्भ में उत्पादकों के पास जो विकल्प थे, उन्हें नियंत्रण-मुक्त करते हुए, अर्थव्यवस्था में साथ-साथ प्रतियोगी शक्तियों की शुरुआत करना था। इस विकल्प को किसी ऐसी वित्तीय प्रणाली का समर्थन प्राप्त हो सकता था जो अपने जोखिमों तथा लाभों की गणना स्वयं कर सकती थी। यद्यपि एक सही प्रतियोगी बाज़ार अर्थव्यवस्था की कुछ जरूरी अपेक्षाओं, जैसे कि बाज़ार से हटने की बाधाओं को समाप्त करना, को उसी उत्साह से शुरू नहीं किया गया; तथापि जो सुधार किए गए उनका प्रभाव काफी शक्तिशाली सिद्ध हुआ।

हालाँकि यह सब अचानक नहीं हुआ । जैसा कि चार्ट 2 में लाइन इंगित करती है, 1991 के सुधारों की शुरुआती वृद्धि के लाभ ज्यादा देर नहीं टिके। 1994-97 की तीन वर्ष की अवधि के दौरान वृद्धि तेजी से बढ़ी और इसने 7 प्रतिशत की सीमा को पार कर लिया। परंतु बाद के पाँच वर्षों में यह घटकर 5 प्रतिशत पर आ गई। इस स्थिति ने समूची सुधार प्रक्रिया की विशेषताओं पर ही सवाल खड़े कर दिए; अगर वृद्धि के लाभ इतने कम होने थे तो क्या इसी के लिए इतने बड़े संस्थागत परिवर्तन करने और राजनीतिक चुनौतियाँ झेलना जरूरी था? और जैसा कि बाद में हुआ, 2003 से आगे वृद्धि में आई तेजी ने इस खास बहस को ही दबा दिया।

इस अवधि पर यदि फिर से नज़र डालें तो घटनाओं की तार्किक व्याख्या यह है कि सुधार प्रक्रिया को व्यवस्थित करने में लंबा समय

चार्ट 2: अच्छे चक्र:
बढ़ता निवेश, घटते घाटे

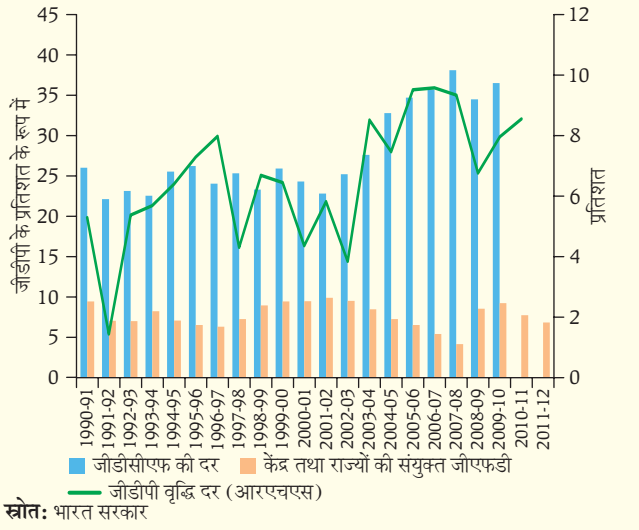

स्रोत: भारत सरकार

लगा। उदाहरण के तौर पर व्यापारिक सुधार, द्विचरणीय ट्रांज़िशन में प्रकट हुए, प्रथम, आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंध से प्रशुल्कों के रूप में, तथा दूसरे प्रशुल्क दरों को कम करके अंतरराष्ट्रीय समान स्तरों तक ले आने के रूप में । इसी प्रकार वित्तीय क्षेत्र के सुधार भी एकदम से लागू नहीं हुए; वे घरेलू बैंकों, बाज़ार तंत्रों तथा पूंजी खाते के उदारीकरण में धीरे-धीरे उतरे। चालू खाते की परिवर्तनीयता प्राप्त होने से पूर्व 'विनिमय दर व्यवस्था' में कुछ तत्काल कदम उठाए गए। जहाँ घरेलू निवेशकों के लिए औद्योगिक लाइसेंसीकरण प्रक्रिया को काफी शुरू में ही समाप्त कर दिया गया था, वहीं सीधे विदेशी निवेश की नीतिगत व्यवस्था भी धीर-धीरे खुली जिससे प्रतियोगी परिवेश के बारे में अनिश्चितता फैली। संक्षेप में यह क्रांतिकारी प्रक्रिया होने की बजाय एक विकासशील प्रक्रिया थी। अत: इसका पूर्ण प्रभाव केवल तभी प्रकट होगा जबकि कार्यरत सभी विभिन्न शक्तियाँ एक नाजुक स्तर - बिल्कुल प्रतिकूल स्थिति बनने के स्तर पर पहुँच जाएँ।

यह स्थिति 2003 में आई, जब 2003-04 में वृद्धि दर एकदम तेजी से बढ़कर 8 प्रतिशत तक पहुँच गई और अगले वर्ष आई एक छोटी सी गिरावट को छोड़कर, पाँच वर्षीय अवधि में उस स्तर से काफी अधिक बनी रही जिसे परिदृश्य मैट्रिक्स में ऊपर दाहिने हाथ के बॉक्स में दिखाया गया है।

चार्ट 2 की बार्स एक पैटर्न प्रदर्शित करती हैं जो मेरे विचार में, वृद्धि में तेजी का एक महत्वपूर्ण चालक है। उच्चतर सेट, निवेश - जीडीपी

अनुपात का प्रतिनिधित्व करता है जो 2003 के पहले की 25-30 प्रतिशत की रेंज से बढ़कर उच्च वृद्धि अवधि में, 35 प्रतिशत से अधिक हो गया। इसमें योगदान देने वाला एक महत्वपूर्ण कारक, जो कि हालांकि अकेला नहीं है, अभिपाती बिंदु था। विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में सुधार प्रक्रिया प्राय: खत्म हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप घरेलू निवेश वातावरण के बारे में अनिश्चितता काफी कम हो गई थी। एक स्थिर वातावरण ने, स्पष्टत: निवेश गतिविधि को बढ़ावा दिया और इस आशावाद ने इसे और भी बढ़ाया कि घरेलू बाज़ार इस बारे में अनेक संभावनाएँ पेश करने वाले हैं। बढ़ते निवेश ने दुगुना लाभ दिया, नई प्रौद्योगिकी को तेज़ी से आत्मसात किया तथा साथ ही इसने नई क्षमता भी निर्मित की। परिणामस्वरूप उत्पादन भी बढ़ा और उत्पादकता भी।

बार्स का निचला सेट भी व्यापक महत्त्वपूर्ण गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता है। 2003 में राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंधन अधिनियम के द्वारा, सरकार ने, बजटीय समेकन प्रक्रिया का वादा किया है। 2004 में वृद्धि में आए ठहराव के बावजूद सुदृढ़ीकरण पथ का अनुगमन किया गया। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह अकेली केंद्रीय सकरार का ही वादा नहीं था बल्कि राज्यों ने भी इसमें योगदान दिया। केंद्र और राज्यों का संयुक्त बजटीय घाटा-जीडीपी अनुपात, 2003-04 से धीरे-धीरे गिरना शुरू हुआ और 2007-08 में लगभग 4 प्रतिशत तक पहुँच गया, जो कि संकट से पूर्व का आखिरी वर्ष था।

हमें निवेश और सरकारी खर्च के बीच इस नाटकीय व्यय परिवर्तन की भूमिका को कम करके नहीं आँकना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखें कि निवेश - जीडीपी अनुपात में सरकारी निवेश शामिल होता है, जबकि बजटीय घाटे में अधिकांशत: राजस्व घाटा शामिल होता है अर्थात् सरकार अपने परिचालन (पूँजी के विरुद्ध) व्यय को पूरा करने के लिए उधार लेती है। निवेश बढ़ाने के साथ उपभोग कम करना, वृद्धि बढ़ाने का पाठ्यपुस्तकीय फार्मूला है। 2003-08 की अवधि की भारत की उच्च वृद्धि ने इस वैधता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया था। और यह बदलाव दो सुधार चालकों से प्राप्त हुआ। पहला औद्योगिक, व्यापार तथा वित्तीय क्षेत्र के सुधार, जिन्होंने एक बार स्थिर होने पर निवेश की आकर्षण में भारी वृद्धि की । दूसरे, सरकारी वित्तीय स्थिति को नियंत्रण में लाया गया, जिससे निवेश के लिए संसाधन उपलब्ध हुए।

वृद्धि पर सुधार प्रक्रिया की अच्छाइयों के अंतिम प्रभाव देखने के बाद अब हम उन जोखिमों की ओर देखेंगे जिन्हें इन सुधारों ने प्रणाली में पैदा किया। स्पर्धा, निस्संदेह एक अंतर्निहित जोखिम वाली प्रक्रिया है और एक कड़ी स्पर्धा वाले माहौल में व्यक्तिगत कारोबारों का फेल होना संभावित ही है। परंतु घरेलू परिप्रेक्ष्य में यह कोई विध्वंसक शक्ति नहीं है क्योंकि बहुत से लोग सफल भी होते हैं। दूसरे शब्दों में, अधिकांश स्थितियों में, अधिक स्पर्धा वाले घरेलू माहौल से, कोई प्रणालीगत जोखिम नहीं उभरता परंतु जब वैश्विक एक्सपोज़र की बात आती है तो मामला कुछ भिन्न हो जाता है। घरेलू और वैश्विक अर्थव्यवस्थाओं के बीच जितना अधिक एकीकरण होगा, उसके साथ अवसर और जोखिम भी उतनी ही मात्रा में बढ़ेंगे। यहाँ मैं दोनों जोखिमों की ओर ध्यान केंद्रित करना चाहूँगा।

पहला जोखिम वैश्विक एकीकरण की डिग्री से जुड़ा है। जैसाकि चार्ट - 3 में इंगित होता है, भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ काफी मात्रा में एकीकृत हुई। विभिन्न आयामों में गतिविधि की सकल मात्राएँ चार्ट की बार्स से परिलक्षित होती हैं। व्यापार बार आयातों और निर्यातों की कुल राशि बताती है। चालू खाते की बार प्राप्तियों और भुगतानों की कुल राशि बाताती है, आदि। हर आयाम में भारतीय अर्थव्यवस्था गत बीस वर्षों में काफी महत्त्वपूर्ण ढंग से एकीकृत हुई है जो चालू और पूँजी खातों के लेनदेनों में किए गए सुधारों तथा साथ ही वस्तुओं और सेवाओं के निर्यातों के अच्छे कार्यनिष्पादन का परिणाम है। संकट के समय सभी भुगतान संतुलन

चार्ट 3: बढ़ता वैश्विक एकीकरण

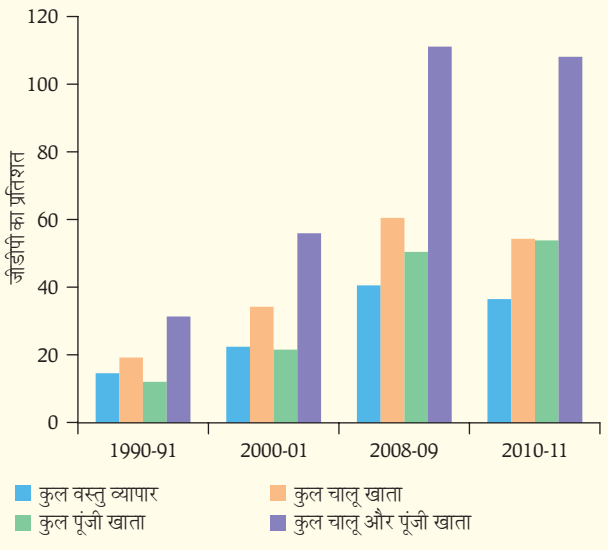

संबंधी लेन-देनों की कुल राशि जीडीपी से अधिक थी जो काफी महत्त्वपूर्ण है।

यहीं जोखिम की धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। जब भारत सहित विश्व की सभी उभरती बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं में संकट छाया और भारी मात्रा में पूंजी बाहर चली गई तो विनिमय दरों और घरेलू नकदी स्थितियों पर भारी दबाव आया। वैश्विक एकीकरण ने इन अर्थव्यवस्थाओं, जो पहले अपेक्षाकृत काफी स्वस्थ थीं, के लिए जो भेद्यता पैदा की, संचार की इन सरणियों ने, उसे उजागर किया। सौभाग्य से उन अर्थव्यवस्थाओं के पास उपयुक्त नीतिगत उपायों से समाधान ढूँढने की क्षमता थी। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस मुद्दे पर मैं अपने भाषण में बाद में चर्चा करूँगा।

दूसरा जोखिम जिसपर हमें ध्यान देने की ज़रूरत है वह है आयातित ऊर्जा पर अर्थव्यवस्था की निर्भरता। हालाँकि यह एक संरचनात्मक स्थिति है जिसका किसी भी दशा में घरेलू हालातों पर प्रभाव पड़ना ही है फिर भी तथ्य यह है कि अर्थव्यवस्था में तेज़ वृद्धि ने, ऊर्जा की खपत और सघनता की समग्र वृद्धि में योगदान दिया है जिससे अर्थव्यवस्था वैश्विक ऊर्जा की कीमतों के आघातों के प्रति और भेद्य हो गई है। चार्ट - 4 में मुद्रास्फीति के परिप्रेक्ष्य में इस भेद्यता को इंगित किया गया है। नीले रंग की बार्स मुद्रास्फीति को बढ़ाने में समग्र ऊर्जा कीमतों के अंशदान को परिलक्षित करती हैं। यद्यपि ऊर्जा की कीमतें भारत में मुद्रास्फीति की एक मात्र चालक नहीं है तथापि पैटर्न दर्शाता है कि गत दशक में ऊर्जा की उच्च कीमतें, उच्च मुद्रास्फीति की सहवर्ती रही हैं।

सरहदें और अर्थव्यवस्था का लचीलापन

हुआ यह कि वृद्धि पर संकट का प्रतिकूल प्रभाव अपेक्षाकृत कम समय के लिए ही रहा। 2008-09 में, अर्थात् जिस वर्ष संकट आया, वृद्धि 7 प्रतिशत से भी नीचे गिर गई परंतु अगले ही वर्ष सुधरकर 8 प्रतिशत पर आ गई। हालांकि यह प्रतिशत भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न था परंतु मोटे तौर पर सभी उभरती बाज़ार अर्थव्यवस्थाअओं की स्थिति यही थी। उल्लेखनीय बात यह रही कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं पर संकट का प्रभाव काफी बड़ा और निरंतर रहा जबकि उभरती बाजार अर्थव्यवस्थाओं पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत कम और अस्थायी रहा। स्पष्टत: सभी उभरती बाजार अर्थव्यवस्थाओं के मामले में कुछ सामान्य विशेषताएँ भी रहीं जिन्होंने इस लचीलेपन में योगदान दिया। परंतु यह एक व्यापक विषय है जिसपर यहाँ चर्चा संभव नहीं है। मैं यहाँ केवल भारतीय परिप्रेक्ष्य में लचीलेपन के संभावित स्रोतों तक ही स्वयं को सीमित रखूँगा।

मेरे विचार में चार तत्व महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, काफी बढ़े हुए वैश्विक जुड़ावों के रहते हुए भी तथ्य यह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यत: घरेलू कारकों से चालित होती रही है। जैसा कि चार्ट 5 में इंगित है, मांग पक्ष में निजी उपभोग खर्च का अपेक्षाकृत एक बड़ा हिस्सा है। माँग को समग्र रूप से स्थिर रखने में यह एक महत्त्वपूर्ण कारक रहा है। अस्थायी आघातों के

चार्ट 4: मुद्रास्फीति में योगदानकर्ता

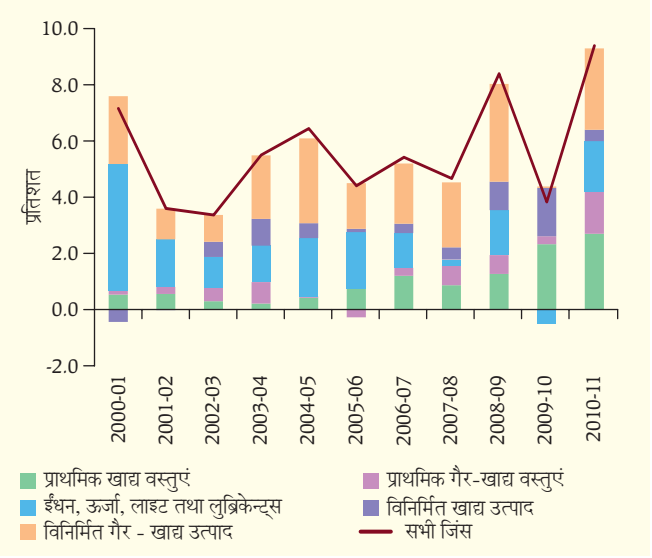

चार्ट 5: स्थर निजी उपभोग

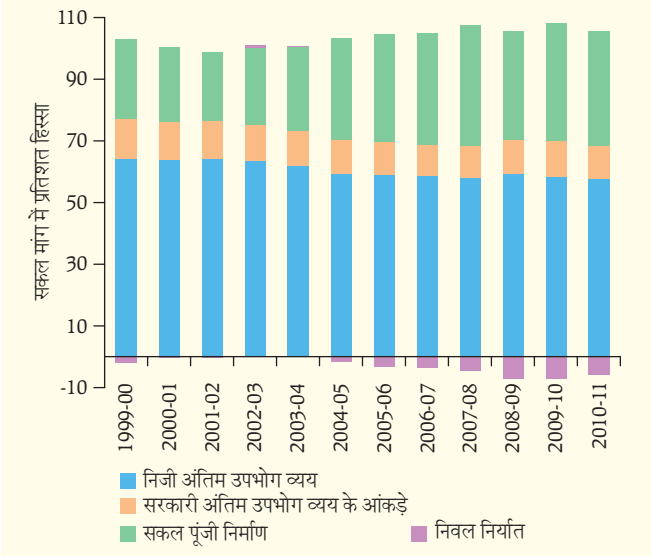

दौरान, खास तौर पर उपभोग, अपेक्षाकृत सुनम्य रहता है क्योंकि व्यक्तियों और परिवारों को अपने खर्चों के पैटर्न में समायोजन लाने में समय लगता है। जब निरंतर आधात लगने शुरू हो जाते हैं तब पैटर्न में महत्त्वपूर्ण बदलाव आते हैं। इस दृष्टि से माँग के अन्य स्रोतों की तुलना में स्थिरीकरण शक्ति वह कारक है जो नीतिगत कार्रवाई तथा प्रतिक्रिया के समय से जल्दी प्रभावित होती है और आघात के प्रभाव को कम करने में मदद करती है।

दूसरे, जब संकट आया तो एक मजबूत नीतिगत प्रक्रिया शुरू करने की क्षमता विद्यमान थी। मौद्रिक मोर्चे पर संकट से पहले जो कड़ा और अस्फीतिकारी स्वरूप था उसने नीतिगत दरों और नकदी प्रारक्षित अनुपात को अपेक्षाकृत एक ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। ज्यों ही संकट बढ़ा उसने जिन्सों, खासकर ऊर्जा तथा मूल्यों पर नाटकीय प्रभाव डाला जिसने अन्य चालकों के साथ मुद्रास्फीति की तेज़ गिरावट में भी मदद की । इसने मौद्रिक रुझान की शीघ्र और बड़े पैमाने पर प्रतिकूलता को आधार प्रदान किया। जैसा कि चार्ट - 6 से स्पष्ट है अपेक्षाकृत कम समयावधि में नीतिगत दरों तथा नकद प्रारक्षित अनुपात - दोनों में महत्त्वपूर्ण कमी आई।

मैंने पहले उन जोखिमों का जिक्र किया था जो बढ़ते वैश्विक एकीकरण के साथ आए। भारतीय अर्थव्यवस्था पर जो सबसे अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा वह लेहमन ब्रदर्स के ढह जाने के तत्काल बाद तेज़ी से पूँजी बाहर जाने के कारण पड़ा। जिन कारोबारों की नींव काफी मज़बूत थी उनकी स्थिति भी नक़दी के भारी संकुचन के कारण खतरे में पड़ गई और नकदी की कमी लंबी होने से ऋणशोधन क्षमता की समस्या भी बढ़ गई। मौद्रिक नीति के रुझान में परिवर्तन करने के लिए प्रणाली में जो विशाल नकदी राशि डाली गई उससे इस खतरे को टाला जा सका।

जैसा, कि चार्ट-2 में दिखाया गया है, राजकोषीय नीति ने भी योगदान दिया। जैसा कि पहले इंगित किया गया है संकट से पूर्व राजकोषीय समेकन की प्रक्रिया ने सरकारी वित्त को अपेक्षाकृत अच्छा स्वरूप प्रदान किया था। ऐसा करते समय सरकारी खर्चे को बढ़ा कर निजी माँग में, खासकर निवेश में, मंदी का सामना करने की क्षमता पैदा कर दी थी। हालांकि इस प्रकार के नीतिगत कदम में एक जोखिम बना रहता है और वह यह है कि बढ़े हुए राजकोषीय वादे, जितनी ज़रूरत होती है, उससे भी ज्यादा चलते हैं। विश्व भर में यह बड़ा बहस का मुद्दा है। कुछ देशों ने, जब निजी माँग अभी भी थोड़ी कमज़ोर हो, ऐसी स्थिति में संकट-जनित राजकोषीय वादों से बाहर निकलने के प्रयास किए हैं, जबकि अन्य देशों ने अधिक वादे किए जिनसे लचीली निजी माँग के कारण स्फीतिकारी दबाव बढ़े। स्थिति चाहे कैसी भी हो, यह समझना ज़रूरी है कि राजकोषीय स्पेस तथा उसे प्रयुक्त करने की इच्छा, सुनम्यता का एक महत्त्वपूर्ण कारक था।

तथापि सुनम्यता के तत्कालीन स्रोतों के अलावा मैं दो ऐसे अन्य संरचनात्मक कारणों का भी जिक्र करना चाहूँगा जिनके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को आघात सहने की शक्ति मिली। इन्हें मैं 'सरहदों' का नाम देना चाहूंगा। इनमें से पहला है बैंक पोर्टफोलियो की प्रकृति। चार्ट-7 में भारतीय बैंकिंग प्रणाली के तुलन-पत्रों की संरचना बताई गई है।

चार्ट 6: मौद्रिक नीति प्रतिक्रियाएं

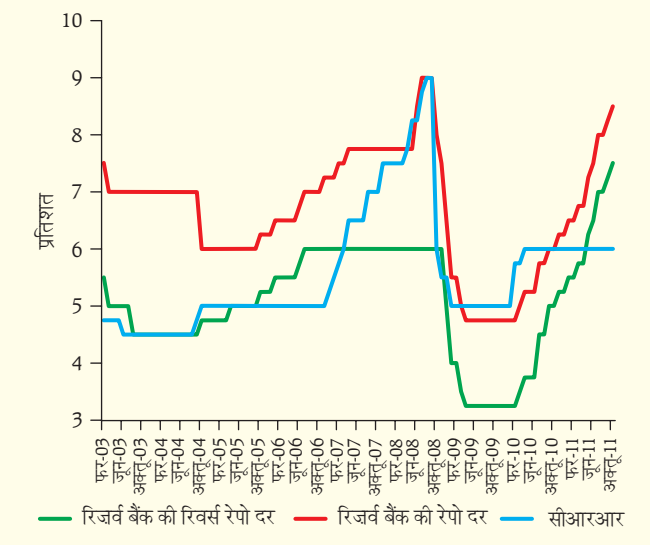

चार्ट 7: बैंकों की तुलनपत्र संरचना

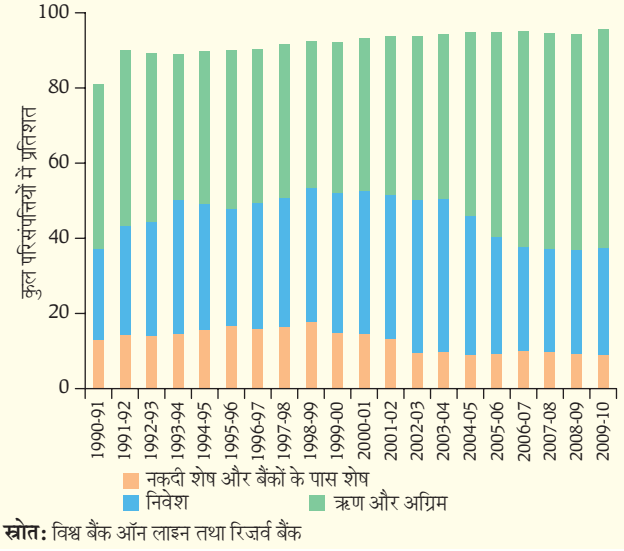

स्रोत: विश्व बैंक ऑन लाइन तथा रिजर्व बैंक

ऋणों का अपेक्षित बड़ा और स्थिर अनुपात इस लचीलेपन में प्रमुख योगदान करता है। भारत तथा विश्व की उभरती अन्य अर्थव्यवथाओं में, बैंकों के तुलन पत्रों में निवेशों की अपेक्षा, ऋणों का हिस्सा अधिक है। चूँकि निवेश, प्रतिभूतियों के दैनिक बाज़ार मूल्यों के अधीन होते हैं इसलिए वे परिसंपत्तियों के मूल्यों में तेज़ी से गिरावट आने पर भेद्य हो जाते हैं। ऋणों में भी गैर-निष्पादक आस्तियों के लिए प्रावधान-अपेक्षाओं के ज़रिए तुलन-पत्र जोखिम होते हैं। लेकिन जो अर्थव्यवस्थाएँ काफी तेज़ी से बढ़ रही हैं उनके लिए ये, परिसंपत्ति मूल्यों में भेद्यता के मुकाबले, संभवत: कम दुर्वह हैं, क्योंकि उथल-पुथल वाले बाज़ार में मूल्य तेज़ी से ऊपर नीचे होते रहते हैं।

तुलन-पत्र समायोजनों ने विकसित अर्थव्यवस्थाओं में, उनकी वित्त प्रदान करने की क्षमता को काफी कम करके इन अर्थव्यवस्थाओं की वित्तीय प्रणालियों की कमजोरी बढ़ाने में एक बड़ी भूमिका निभाई है। इसने संभवत: वृद्धि के धीमेपन की मात्रा और निरंतरता-दोनों में योगदान दिया है। इसके मुकाबले, जिसका कि मैंने भारत के परिप्रेक्ष्य में पहले भी जिक्र किया है, जहाँ उभरती अर्थव्यवस्थाएँ नकदी संबंधी समस्याओं से जूझीं, वहाँ अधिक पारंपरिक संरचना के कारण तुलन-पत्रों के स्थायित्व ने, प्रणालियों की वित्त प्रदान करने की क्षमता बनाए रखने में मदद की। प्रदान की गई यह नकदी, तेज़ी से कारोबारों में पहुंची और इसने नकदी के कारण होनेवाली ऋणशोधन क्षमता संबंधी समस्याओं को बढ़ने से रोकने में मदद की।

मेरे विचार से भारतीय परिप्रेक्ष्य में दूसरा संरचनात्मक तत्व है पूँजी खाते से संबंधित प्रबंधन ढाँचा। संकट से पहले पूँजीगत नियंत्रणों को सुगम वैश्विक एकीकरण में, आमतौर पर रुकावट माना जाता था, और अक्षमता का स्रोत माना जाता था। इस उभरती विचारधारा से इस अवधारणा में कुछ बदलाव आया है कि, कुछ प्रकार के पूँजी नियंत्रण, पूँजी प्रवाहों के अधिक उतार-चढ़ाव से पैदा हुए वैश्विक आघातों के कारण संचारित हुई अस्थिरता से अस्थायी राहत प्रदान कर सकते हैं। हालाँकि विश्व में यह बहस चल रही है, परंतु संभवत: भारतीय अनुभव भी इसमें कुछ योगदान कर सकता है।

व्यापक रूप से कहें तो, पूँजी नियंत्रणों के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण तरजीहों के क्रम-निर्धारण पर आधारित है। कुछ क्षेत्र विशिष्ट प्रतिबंधों को छोड़कर, जो वृहत् आर्थिक तर्कों से सीधे प्रेरित नहीं हैं, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर कोई सीमा ही नहीं है। इस माध्यम को वृद्धि और उत्पादकता को बढ़ाने वाला माना गया है। इक्विटीज़ में विदेशी पोर्टफोलियो निवेश पर तो कोई सीमाएँ हैं ही नहीं, इस सरणी में बाज़ार जोखिम और विनिमय दर जोखिम, दोनों पूरी तरह विदेशी निवेशक द्वारा ही वहन किए जाते हैं। हालांकि कर्ज़ प्रवाहों पर सीमाएँ हैं परंतु इनकी अधिमानता सबसे कम है, खास तौर पर इसलिए क्योंकि घरेलू ऋणकर्ता को भुगतान करने और विनिमय दर जोखिम वहन करने की बाध्यता होती है। इस वर्ग में अल्पावधि कर्ज़ के मुकाबले दीर्घावधि कर्ज़ को प्राथमिकता दी जाती है।

यदि वैश्विक आघात की स्थिति में बाह्य कर्ज़ दायित्वों का मोचन किया जाता है तो उनका पूँजी खाते पर ज़बरदस्त दबाव पड़ सकता है। उन पर कुछ सीमा लगा देने से अर्थव्यवस्था की भेद्यता में कमी आएगी। संकट की अवधि का पुनरावलोकन करने पर ज्ञात होगा कि जब इक्विटी निवेशों में से बहुत बड़ी मात्रा में बहिर्गमन हो रहे थे, तो यह सोचना एकदम आसान होगा कि यदि कर बाध्यताओं का मोचन भी साथ-साथ होता तो घरेलू बाजारों पर दबाव और उसका परिणामकारी प्रभाव और अधिक गहन होता।

अब मैं कर्ज़गत अन्तर्प्रवाहों पर प्रतिबंधों को, मात्रा अवधि तथा मूल्यन के संदर्भ में व्याख्यायित करूँगा जो कि इस समय 'रणनीतिगत' प्रकृति के रूप में अवस्थित हैं। वे वैश्विक एक्सपोज़र के जोखिमों पर कुछ सीमाएं लगाने की जरूरत से प्रेरित हैं, न कि विनिमय दर उथल-पुथल के दैनिक आकलनों से। इसके परिणाम स्वरूप इन रणनीतिगत प्रबंधों की पृष्ठभूमि में रूपया दैनिक आपूर्ति और माँग पैटर्न की प्रतिक्रिया के रूप में संचालित होता है। बाद में इन प्रतिबंधों को रणनीतिगत आकलनों के प्रतिक्रियास्वरूप कम भी किया जा सकता है, जैसे मूलभूत निवेश हेतु विदेशी निधियों की माँग, जैसा पिछले वर्ष में किया जा चुका है। परंतु 2008 के संकट के समक्ष लचीलेपन के मुद्दे पर वापस आएँ तो यह तर्क दिया जा सकता है कि पूँजी खाते के प्रबंधन ढाँचे में परिलक्षित अधिमानता क्रम ने घरेलू अर्थव्यवस्था पर प्रभाव की मात्रा को कम करने में मदद की है।

नीतिगत परिवर्तन

अब मैं दुबारा अपने मूल तर्क पर आता हूँ। भारतीय अर्थव्यवस्था की तेज़ वृद्धि में सुधार बहुत महत्त्वपूर्ण योगदानकर्ता थे। तथापि सुधार की रणनीति, चाहे यह कितनी भी उत्पादक थी, अपने साथ कुछ जोखिम भी लेकर आई। इन जोखिमों की मान्यता और कुछ सरहदों के रूप में इनके संबंध में प्रतिक्रिया के संबंध ने आघात गहरा होते हुए भी अर्थव्यवस्था को सुनम्य बनाने में मदद

की। इस तर्क का महत्त्वपूर्ण संदेश यह है कि वृद्धि और सुनम्यता का मेल, सुधार प्रक्रिया से आता है जो अवसरों के विस्तार तथा जोखिमों को घटाने के बीच संतुलन करती है - अर्थात दक्षता के साथ स्थायित्व स्थापित करती है ।

इसे ध्यान में रखते हुए अब मैं उस संगठनात्मक ढाँचे की ओर वापस आता हूँ जिससे मैंने अपना भाषण शुरू किया था। हाल के वर्षों को बॉक्सों में से दो में वर्गीकृत किया गया है। आइए अन्य दो के संदर्भ में भविष्य को देखें। इनमें से इस समय ऊपर दाहिनी ओर का बॉक्स असंगत है। आने वाले कुछ समय में ऐसी स्थिति का अनुमान लगाना कठिन है जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था तो समस्याओं से घिरी होगी लेकिन शेष विश्व अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में होगा। अब बचता है नीचे दाहिनी ओर का बॉक्स, जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए तो स्थितियाँ अनुकूल हैं, जबकि बाकी विश्व के लिए नहीं हैं।

इस परिदृश्य में परिकल्पित, प्रतिकूल वैश्विक परिस्थितियाँ निश्चय ही एक वास्तविक अनुमान हैं । तब प्रश्न यह उठता है कि हम यह कैसे सुनिश्चित करें कि घरेलू अर्थव्यवस्था अनुकूल ज़ोन में आ जाए? और यहां नीतिगत चुनौतियों की बात आती है। सुधार-वृद्धि-लचीलेपन के त्रिकोण में वे कौन सी नीतिगत प्राथमिकताएं हो सकती हैं जो वृद्धि बनाए रखने में अर्थव्यवस्था की मदद करेंगी तथा साथ ही जोखिमों को भी काबू में रखेंगी?

इससे एक बड़ा परिदृश्य खुलता है परंतु मैं स्वयं को इन मुद्दों तक सीमित रखूँगा जो मैंने अपने भाषण में शामिल किए हैं और उन्हें ''विकास - सुनम्यता'' के परिप्रेक्ष्य में देखूँगा। पहले मैं मुद्रास्फीति के मुद्दे पर वापस लौटता हूँ जो मैंने बढ़ते ऊर्जा मूल्यों के रूप में वैश्विक शक्तियों के प्रति भेद्यता के संदर्भ में उठाया था। यह स्पष्टता एक एकीकृत ऊर्जा रणनीति की ज़रूरत की ओर संकेत करती है जिसका उद्देश्य ऊर्जा के समग्र प्रयोग को संरक्षित करना और संतुलन को घरेलू संसाधनों, अधिमानत: पुनर्नवीकरण की ओर ले जाना है।

तथापि एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, ऊर्जा से स्फीतिकारी आघातों की निरंतर भेद्यता को भी स्फीति के अन्य स्रोतों द्वारा कम किया जा सकता है जिसपर घरेलू नीति के लिए काफी मात्रा में नियंत्रण मौजूद है। इस संदर्भ में मैं खाद्य मुद्रास्फीति से होने वाले असली खतरे पर बल देना चाहूँगा। कुछ प्रमुख खाद्य मदों - प्रोटीन के स्रोतों, सब्ज़ियों तथा फलों - में बढ़ता माँग तथा आपूर्ति असंतुलन, खाद्य मुद्रास्फीति

चार्ट 8: खाद्य स्फीति: प्रोटीन तथा अन्य

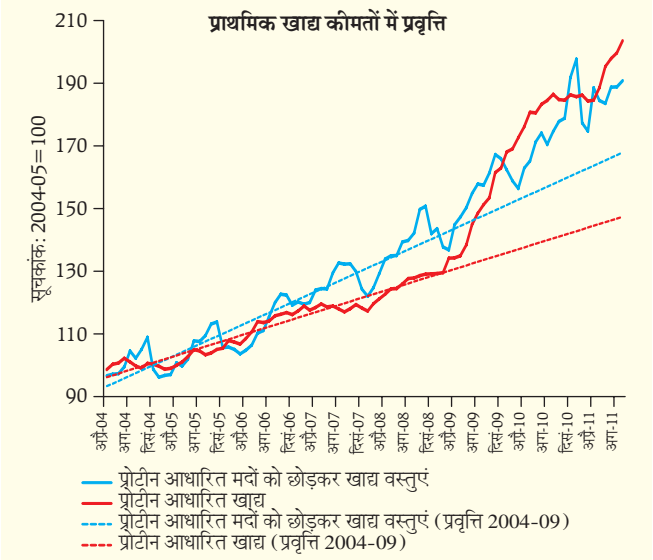

को गंभीरता प्रदान करने में मदद कर रहा है। चार्ट -8 इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के लक्षण स्पष्ट दिखा रहा है। इससे मुद्रास्फीति की औसत दर बढ़ती है जिससे वह 'प्रणाली बाह्य ऊर्जा आघातों' अथवा मुद्रास्फीति के अन्य स्रोतों के प्रति और भी अधिक भेद्य हो जाती है।

इस पैटर्न में विकास-लचीलेपन के कुछ प्रत्यक्ष निहितार्थ भी हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जब लोग दौलतमंद हो जाते हैं तब वे अपने खाने में विविधता लाने लगते हैं। दीर्घावधि विकास की एक प्रमुख साझी विशेषता यह है कि खाद्य अर्थव्यवस्था ने इसे उन खाद्यों की अधिक सक्षम आपूर्ति (उत्पादन अथवा व्यापार के ज़रिए) के द्वारा समायोजित किया है, जो लोग ज़्यादा खाना चाहते हैं। अगर ऐसा नहीं होता है तो लोग खाने पर ज्यादा खर्च करना शुरू कर देते हैं तथा अन्य चीज़ों पर कम, जिससे गैर-खाद्य उत्पादों की माँग में वृद्धि मंद पड़ जाती है। जैसा पहले सुझाया गया है, सकल निजी उपभोग व्यय एक स्थिरीकरण शक्ति हो सकती है; यह जितनी विविधीकृत होगी उतनी ही ज़्यादा स्थायित्व में योगदान करेगी परंतु वृहत् आर्थिक निहितार्थों को छोड दें तो विकास और कल्याण की दृष्टि से यह चिंता की बात है कि बेहतर पौष्टिकता तक पहुँच की राह में बढ़ती हुई खाद्य कीमतें रुकावट डालती हैं। त्वरित रूप से बढ़ी हुई आपूर्ति ही असल में इस समस्या का एकमात्र समाधान है।

दूसरे, वृद्धि के साथ लचीलेपन को प्रोत्साहित करने के तरीके के रूप में विविधीकरण के थीम को जारी रखते हुए जीडीपी की क्षेत्रगत संरचना तथा रोजगार, प्रमुख नीतिगत प्राथमिकता की जरूरत की ओर संकेत करते हैं । चार्ट - 9 जीडीपी वृद्धि के चालकों तथा

चार्ट 9: संक्रमण काल की विभिन्न गतियाँ

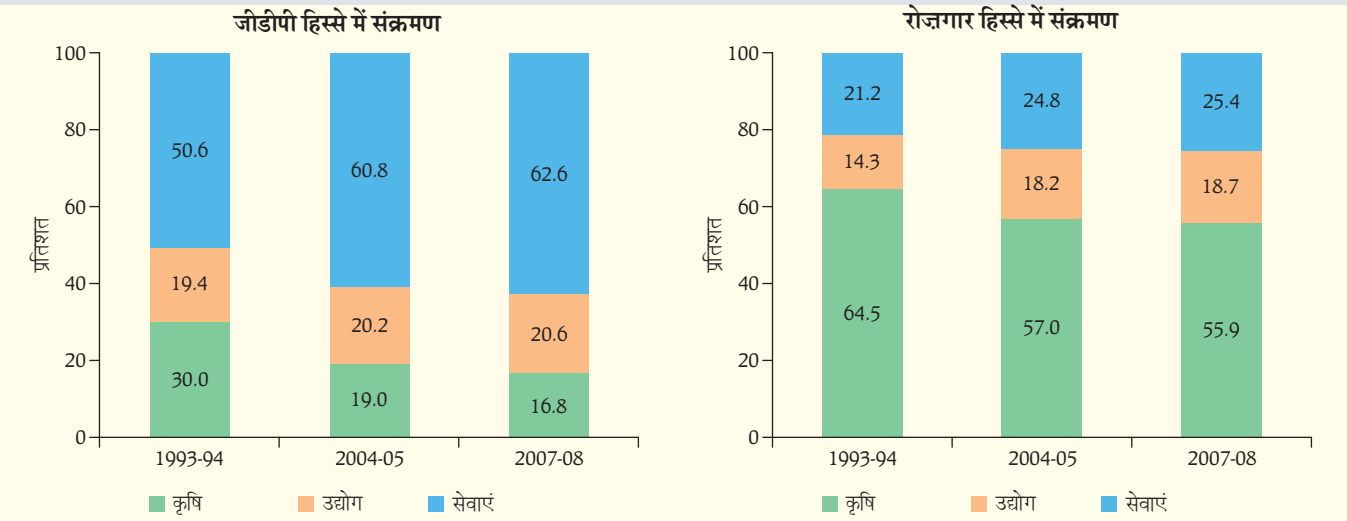

स्रोत: सीएसओ तथा आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार

रोज़गार के पैटर्न के बीच एक स्पष्ट भिन्नता दर्शाता है जहाँ कृषि, जीडीपी के अपने हिस्से की दृष्टि से, निरंतर सिकुड़ रही है, वहीं रोज़गार में इसका हिस्सा प्रमुख तथा अपेक्षाकृत स्थिर बना हुआ है। श्रम शक्ति का एक स्थिर अनुपात उत्पादन के गिरते हिस्से को निर्मित कर रहा है। दूसरी ओर, उद्योग, जो कि कृषि से आने वाले कामगारों के लिए एक प्राकृतिक अवशोषक होना अपेक्षित होता है तथा जो अधिक उत्पादक तथा बेहतर वेतन वाली नौकरियाँ प्रदान करता है, जीडीपी तथा रोज़गार - दोनों में केवल अपना हिस्सा बनाए रख सका है। इसने वृद्धि अथवा रोज़गार में से किसी में भी स्पष्टत: इंजन की भूमिका नहीं निभाई है।

जीडीपी वृद्धि के लिए सेवाओं पर और रोज़गार के लिए कृषि पर अधिक निर्भरता स्पष्टत: भेद्यता का एक स्रोत है। जीडीपी के हिस्से को, श्रमशक्ति के हिस्से से, ज़रूरी नहीं कि 'एक-के-लिए-एक' के आधार पर संतुलित किया जाय, फिर भी ये हिस्से, मोटे तौर पर, तदनुरूपी आधार पर ही चलने चाहिए ताकि वृद्धि की प्रक्रिया को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।

उद्योग में त्वरित वृद्धि को सुगम बनाने के लिए क्या करना ज़रूरी है, यह सबको पता है। मूलभूत सुविधाएं ही प्रमुख आवश्यकताएं हैं। श्रम विनियमों को भी सुचारु बनाने की आवश्यकता है। कामगारों में उपयुक्त कौशल होना चाहिए। करों को सुचारु बनाना ज़रूरी है। यह एक लंबा और सुपरिचित एजेंडा है जिसपर प्रगति के स्वागत योग्य चिह्न हैं, जिनमें से-नई निर्माण नीति, वस्तु और सेवा कर, राष्ट्रीय कौशल विकास निगम प्रमुख हैं और ये ऐसे अभिनव प्रयास हैं जो इस क्षेत्र को ऐसा आधार प्रदान करते हैं जिससे ये क्षेत्र वृद्धि और रोज़गार के इंजन के रूप में उभर सकें। परंतु इन सभी विभिन्न आयामों को, इनका पूरा लाभ लेने से पूर्व एक साथ किसी निश्चित स्थिति पर पहुंचने की ज़रूरत है। अपने भाषण के शुरू में मैंने विभिन्न प्रकार के सुधारों के संचयी प्रभावों के बारे में बताया था जिनसे वृद्धि में एकाएक तथा भारी वृद्धि होती है जिसे अभिपाती बिंदु कहते हैं। हमें उस अनुभव से यह सीख लेनी चाहिए कि जितने विभिन्न सुधार प्रयासों को एक साथ चलाएँगे उतनी ही जल्दी यह अभिपाती बिंदु आएगा। इस संबंध में हम समय की आरामदेही पर निर्भर नहीं कर सकते।

तीसरे, स्थिरता के साथ विकास के लिए किसी ऐसी वित्तीय प्रणाली का मजबूत समर्थन ज़रूरी है जो स्थिरता के साथ भी वृद्धि प्राप्त कर सकती है। वित्तीय क्षेत्र के विकास का संकटोत्तर परिप्रेक्ष्य, मज़बूत तुलन-पत्र बनाए रखने की दृष्टि से मजबूत पूँजी वाले बैंकों तथा निधियों के नियोजन में प्रतिबंध लगाने पर जोर देता है। भारत में तथा कई उभरती अर्थव्यवस्थाओं में भी, बैंकिंग के प्रति परंपरागत दृष्टिकोण, जिसमें निवेश की बजाय ऋण वितरण पर बल दिया जाता है, लचीलेपन का स्रोत प्रतीत होता है। इसी के साथ अधिक रूढ़िवादिता तेज़ी से बढ़ रही अर्थव्यवस्था की वित्तीय ज़रूरतों को पूरा करने में वित्तीय प्रणाली की क्षमता को घटा सकती है। इस संदर्भ में वित्तीय विकास हेतु एक ऐसी कार्यनीति की ज़रूरत है जो नए अवसरों के वित्तपोषण हेतु नए रास्ते शुरू करने की क्षमता को निरंतर संतुलित करे, और ये अवसर जो जोखिम साथ लाते हैं उन्हें भी मापने और कम करने के साधन निर्मित करे। यह रस्सी पर चलने जैसा है जिससे कोई भी आदमी किधर भी गिर सकता है।

अंत में पूँजी खाता प्रबंधन के संबंध में संकट के अनुभव से सीखा प्रमुख सबक यह है कि रणनीतिगत पूँजी नियंत्रणों तथा एक चल मुद्रा का मिश्रण वैश्विक वित्तीय उथल-पुथल की स्थिति में एक प्रभावी बफर प्रदान कर सकता है। पहले वर्णित नियंत्रण, बाहरी आघातों की स्थिति में, घरेलू अर्थव्यवस्था की भेद्यता पर कुछ सीमाएं लगाते हैं। इन सरहदों के भीतर चलमुद्रा दर आघात को अवशोषित करने का कार्य करती है। यह नीतिनिर्माताओं पर इस बोझ को भी समाप्त करती है कि वे या तो संभावित स्फीतिकारी परिणामों की कीमत पर अधिशेष अंतर्प्रवाहों को अवशोषित करें या फिर साख के लिए संभावित प्रतिकूल प्रभावों की कीमत पर बहिर्प्रवाहों का समायोजन करें।

निष्कर्ष टिप्पणी

इस भाषण के महत्वपूर्ण संदेशों पर मैं फिर से बल देना चाहूँगा। पहले, सुधारों ने वृद्धि के अवसरों और जोखिम कम करने के बीच संतुलन बनाया और 2008 के संकट से पहले के भारतीय अर्थव्यवस्था के वृद्धि संबंधी कार्य निष्पादन में तथा संकट के प्रति लचीलापन भी प्रदान किया । दूसरे, भारतीय अर्थव्यवस्था का भावी कार्य निष्पादन, साधारणतया, एक प्रतिकूल वैश्विक वातावरण में वृद्धि और स्थिरता के घरेलू संचालकों को मजबूत बनाने पर ही अधिक निर्भर करता है। तीसरे, पिछले अनुभव से लाभ उठाते हुए, अवसरों से फायदा लेने और जोखिम के प्रबंधन के बीच संतुलन बनाने, गति तथा त्वरित तालमेल से, किसी भी सुधार कार्य नीति से, अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकते हैं।

अंत में मैं 45वें ए.डी.श्रॉफ स्मारक भाषण देने के लिए मुझे आमंत्रित कर मेरा सम्मान बढ़ाने के लिए, फोरम ऑफ फ्री एंटरप्राइज़ का इस कार्यक्रम की मेज़बानी के लिए, इंडियन मर्चेंट्स चैंबर का कार्यक्रम प्रायोजित करने के लिए, न्यू इंडिया एश्योरेंश कंपनी का, तथा कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आप सबका धन्यवाद करता हूँ।